ब्रह्म ज्ञान मार्गदर्शन- योग शिखा उपनिषद से छह मन्त्र.

योग का अर्थ है जुड़ना, जोड़ना, मिल जाना, एकसार हो जाना आदि. लेकिन इस मन्त्र में इसका अर्थ है, आत्मा का ईश्वर से मिलन. श्रुति बताती है कि, योग का क्षेत्र, आत्मज्ञान की चरम सीमा के बाद प्रारम्भ होता है. अर्थात पहले आत्मज्ञान पूरी दृढ़ता से प्राप्त हो गया हो, उसमे किसी भी तरह का संशय अथवा किसी भी तरह के प्रश्न न उत्पन्न हो रहे हों.
प्रश्नो की उत्पत्ति तभी होती है, जब ज्ञान पूर्ण न हो. एक दृष्टान्त है, कि जब किसी पारदर्शी पात्र में जल भर कर उसके मुख को पूरी तरह बंद कर दिया जाय और फिर उस पात्र को हिलाया डुलाया जाय तो उसमे यदि फेन अथवा वायु के महीन बुलबुले भी दृश्टिगत हो जाए तो समझ लेना कि अभी पात्र पूर्ण रूप से नहीं भरा है.

यदि पात्र को पानी में डुबो कर रखा जाए और पूरी तरह भर कर, फिर बाहर निकाल कर उसे बंद किया जाए तो भी, कोई आश्चर्य नहीं होगा, कि वायु उस पात्र में रह जाए और पात्र में थोड़ी हलचल के बाद, वायु के बुलबुले दिखाई पड़ें. केवल एक ही हल है इस समस्या का कि, पात्र को पानी में डूबी हुई अवस्था में उसे पानी के भीतर ही उसके मुख को अच्छे से बंद कर दिया जाए. फिर उसे कितना भी हिलाओ डुलाओ एक भी बुलबुला नहीं दिखाई देगा. अर्थात पात्र पूरी तरह भरा हुआ है, उसमे लेश मात्र भी किसी बाहरी पदार्थ आदि से दूषित होने की कोई संभावना नहीं है.
ठीक इसी तरह, जब आत्मज्ञान पूरी दृढ़ता से पूर्ण हो कर मन में बैठ जाता है, तो किसी भी तरह के तर्क वितर्क, प्रश्न आदि से उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसमे किसी भी तरह के बुलबुले रुपी प्रश्न व संशय उत्पन्न नहीं हो सकते.

इस तरह के ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात ही, ज्ञान के बोध व ईश्वर से योग का क्षेत्र शुरू होता है. ब्रह्म सूत्र आदि ज्ञान के अंतिम सोपान है, इसलिए इनको वेदांत अर्थात वेदों का अंतिम चरण कहा गया है. वेदांत के बाद वेद अर्थात ज्ञान का अंतिम सिरा आ गया और अब बोध की प्राप्ति का तप शुरू हुआ. इसी बोध की प्राप्ति अथवा बोध को ही योग कहते हैं.

जैसे एक छोटे से बालक को, चाहे वह बालक बुद्धि व ज्ञान से सामान्य न भी हो, तब भी उसे यह बोध होता है कि, कौन उसकी माता है और कौन उसके पिता. उस बालक से उसका यह बोध कोई नहीं हटा सकता या कोई उसके इस बोध पर संशय उत्पन्न नहीं कर सकता है. बोध की ही शक्ति, ज्ञान की अंतिम सीढी है. बोध प्राप्ति के बाद, व्यक्ति को ज्ञान की उतनी ही जरूरत पड़ती है, जितनी की नदी के किनारे बैठे हुए व्यक्ति को कुँए की जरूरत होती है, अर्थात बिलकुल नहीं होती.

शिखा का सामान्य अर्थ होता है ज्वाला की लौ, शीर्ष बिंदु, सबसे ऊपर का स्थान, तेज प्रकाश व तीव्र अग्नि पुंज. इस मन्त्र में शिखा का अर्थ ज्ञान का वह बिंदु है जहाँ से ईश्वर से योग प्रारम्भ होता है.

योगशिखा उपनिषद में कुल ६, अध्याय व ३९०, मन्त्र हैं. यह उपनिषद योग, हटयोग, ध्यान योग, प्रायाणाम आदि के साथ साथ, ज्ञान योग से ईश्वर के साथ योग की प्राप्ति के मार्ग के बारे में बताता है. साथ ही साथ यह उपनिषद में गुरु के प्रति आस्था और गुरु के महत्त्व को भी बताता है.
इन छह मंत्रो पर परिचर्चा से इस उपनिषद के विस्तार का परिचय जरूर मिल जाएगा.

अध्याय १, मन्त्र ३१.
देहावसान समये चित्ते यद्य द्विभाव येत.
तत्त देय भवेज्जीव इत्येवं जन्म कारणाम.
मरणकाल के समय चित्त में जिस जिस व जैसी जैसी भावना करता है,
उसी तरह जीव बन जाता है, यही जन्म अथवा पुनर जन्म का कारण है.

मरणकाल और चित्त का बहुत गहरा सम्बन्ध है. चित्त में पूर्व जन्मो की स्मृतियाँ व हमारे पूर्व जन्मों के कर्मों की स्मृति सुरक्षित रहती है, इस कोष में प्रवेश का अधिकार केवल ईश्वर को ही है. यही चित्त हमारे संचित कर्मो का कोष है और इन्ही संचित कर्मों में से, वे कर्म जो फल देने लायक बन जाते हैं, ईश्वर उन फलों को ही प्रारब्ध के रूप में, वर्तमान जीवन में भोगने अथवा खाने के लिए देता है. इस तरह से हमारे जीवन संचित कर्म और प्रारब्ध हमारे सुखो और दुखों की नियति निर्धारित करते हैं. केवल ईश्वर को ही इस कोष के बारे में पता होता है.

ईश्वर ने गीता अध्याय १३, श्लोक २ में भी, अप्रत्यक्ष रूप से अथवा इशारे में कहा है. इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्र मित्य भिधी यते. यह जो जगत में जितने भी शरीर हैं वह क्षेत्र कहलाते हैं और मैं क्षेत्रज्ञ हूँ. इदं अर्थात यह, जो सामने स्थित है, माया. अहम् अर्थात मैं, जीव. और तत अर्थात वह ईश्वर. क्षेत्र को खेत कहते हैं, खेत को कुछ ज्ञान नहीं होता कि उसमे कौन सी फसल बोई गई है, और उसे किस फसल का भार उठाना पड़ेगा और किस फसल के लिए उसे अपने जमा किये हुए भोज्य पदार्थ, रसायन आदि देने होंगे. केवल किसान को ही मालूम होता है, कौन से खेत में क्या क्या बोया है और खेत के किस किस भाग में भी क्या क्या लगाया हुआ है. यही जीव के साथ भी है, जीव को कुछ नहीं पता होता कि उसे कब कब, क्या क्या और क्यों सहना होगा, केवल ईश्वर ही संचित कर्मों से प्राप्त फलों को प्रारब्ध के

रूप में, जीव के लिए तैयार करता है. जीव को प्रारब्ध को खाना अथवा भोगना ही पड़ता है, इसे किसी भी तरह से अन्यथा नहीं किया जा सकता. जीवन को छोटा भी कर दिया जाए, तो भी अगले जन्म में यही प्रारब्ध कई गुना बन कर वापस आते हैं और भोगना पड़ता है. इसीलिए जो भी मिला है उसे , ईश्वर की तरफ से मिले प्रारब्ध रुपी उपहार को सहर्ष स्वीकार करैं , आनंद से भोग लें. यह जान लो कि स्वयं ईश्वर ने अपने हाथों से आपको दिया है, आप ईश्वर के लिए विशेष हो.

संसार व जगत के नियम और ईश्वर के नियम बहु तअलग हैं. अध्यात्म अर्थात आत्मा के अध्ययन के क्षेत्र में कर्म का अर्थ है, वे कर्म जो हमने अपने मन सहित किये. अर्थात वह कर्म जिसका हमारे मन को कुछ पता ही नहीं था, वह कर्म नहीं माने जाते. जिन कर्मों को हम ईश्वर की आज्ञा समझ कर करते हैं और कर्म करने के पश्चात अपने मन से कर्ता भाव हटा लेते हैं, वह भी कर्म नहीं माने जाते.

दोनों को एक एक उदाहरण लेकर अच्छे से समझते हैं.

एक व्यक्ति एक भोजनालय में भोजन करने गया, जब भोजन कर चुका तो उसने पाया की उसका बटुवा तो उसकी जेब में है ही नहीं. भोजन का खर्चा भी अधिक था. इतने में उसने देखा की भोजनालय में भोजनालय के अधिकारी और कुछ ग्राहकों के बीच बहु तजोर से बहस चल रही है. इस बात का फायदा उठा कर वह व्यक्ति भोजनालय से चुपके से खिसक गया और सीधा घर पहुंचकर ही उसने सांस ली. उस व्यक्ति ने थोड़ी देर बाद. अपना बटुआ ढूंढा और वापस भोजनालय आ गया. तब तक सब शांत हो चुका था, वह सीधा भोजनालय के अधिकारी के पास पंहुचा और सारी बात बताई और क्षमा मानते हु एउसने अपने भोजन के दाम चुका दिए.

कथा के प्रथम सन्दर्भ में, उस व्यक्ति ने भोजनालय से भाग कर गलती की, लेकिन उसने यह गलती अपनी बड़ी गलती को ठीक करने के लिए की, और लौट कर तुरंत भोजनालय के दाम को चुका दिया. अब उसके मन में इस घटना का कोई भी हिस्सा सक्रिय स्मृ तिमें नहीं रहेगा और उसके जीवन में इस घटना का कोई बुरा असर नहीं होगा. वह ईश्वर का भी आभारी रहेगा कि ईश्वर ने उसके सम्मान को ठेस नहीं पहुंचनेदी.

कथा के दूसरेसन्दर्भ में, उस व्यक्ति ने भोजनालय से भाग कर गलती की,यदि वह पकड़ा जाता तो उस पर चोरी और बेईमानी का दोष लगता और उसका अत्यधिक अपमान होता, जिस कारण उसे जीवन भर, इस दंश को सहना पड़ता. बेशक तुरंत बाद में आ कर, अपने दाम चुका देता, तो भी यह अपमान उसे जीवन भर, अपनी स्मृ तिमें सहना पड़ता. वह जीवन भर अपने बटुवे को बार बार देखता और उस भोजनालय की तरफ कभी भूल कर भी ना जाता. यह अपमान उसके स्थायी सक्रीय स्मृ तिका हिस्सा बन कर जीवन के अंत तक उसे कचोटता रहता. क्योंकि इसमें कर्म प्रभावित नहीं हुआ इसलिए यह कर्म उसकी चित्त स्मृ ति का हिस्सा नहीं बनता.

कथा के तीसरे सन्दर्भ में, यदि वह व्यक्ति भोजनालय से भाग कर वापस ही न आता. यह एक महादोष है. यह कर्म जो उस व्यक्ति अपने मन सहित किया है, उस व्यक्ति की सक्रिय स्मृति का हिस्सा बन जाती और स्मृति में उसे पूरा ज्ञान होता की उसने चोरी की है, धोखा दिया है, और यह कर्म उसे पूरे जन्म सक्रिय तौर से याद रहेंगे और चित्त की स्मृति का भी हिस्सा बन जाएंगे कि उसने चोरी की है.

पूरे जीवन जब भी वह उस भोजनालय के सामने से जाएगा, उसे अपनी चोरी की बोध स्मृति और भी दृढ़ हो जायेगी. अव्वल तो पूरे जीवन भर वह उस भोजनालय में जाएगा ही नहीं, और यदि जाएगा भी तो मुंह छुपा कर भोजन करेगा और भोजन का आनंद कभी नहीं ले पायेगा. यदि वह कभी पकड़ा गया तो उसे पहले तो उस राज्य का न्यायालय सजा देगा, फिर मृत्यु के बाद मृत्यु देवता यमराज जी भी उसे सजा देंगे, फिर ईश्वर इस घटना, जो उस व्यक्ति के चित्त की स्मृति में बस गई है, उसे प्रारब्ध के रूप में उसे जीव के नए जन्म में बार बार धन हानि व असफल करवा कर उसके दंड देंगे.

चित्त और मरणकाल का बहुत गहरा सम्बन्ध है जो कि अनंत जन्मो से चला आ रहा है और चिरंतन चलता ही रहेगा. यही चित्त की स्मृतियाँ जिसमे हमारी अधूरी इच्छाएं, हमारे संकल्प आदि भी संग्रहित रहती हैं, वह सब मिल कर जीव के जन्म व पुनर्जन्म का कारण बनती हैं. यदि यह सब है, तो जन्म और पुनर्जन्म निश्चित है.

अध्याय १ मन्त्र 78-79.
जन्मांतर सहस्त्रेषु यदा क्षीणं तु किल्बि षम .
यदा पश्यति योगे नम संसारो छेदनं महत .

यदि यह प्रारब्ध और संचित कर्म आदि का ज्ञान जीव को हर जन्म में मिले और जीव वेद अनुसार अपना जीवन व्यतीत करे. वेद अनुसार का अर्थ है जो भी उसके सामान्य व विशेष कर्म हैं, उनको निष्काम रूप से निभाए. जिस देश और काल में वह रह रहा है वहाँ के नियमों का पालन करे, छल आदि ना करे. हर दुःख और सुख को ईश्वर का उपहार मान कर सहर्ष स्वीकार करे, और अपने विकर्मों में वृद्धि न करे तो, सहत्रों सहस्त्रों जन्म जन्मांतरों के पश्चात, जीव के संचित कर्म क्षीण होने शुरू हो जाते हैं. तब ही योग के द्वारा जीव, संसार में महत अथवा महान उच्छेद का अनुभव कर पाता है.

जो भी बचा हुआ संचित कर्म होता है, वह अपने फल जरूर देता है और जीव को उन फलों को भोगना ही पड़ता है. जीव के कर्म तीन तरह के होते हैं, क्रियमानी, संचित व प्रारब्ध. क्रियमानी वे कर्म हैं जो जीव रुपी, हम इस जीवन में कर रहे हैं. संचित कर्म वे कर्म हैं जो खलिहान अथवा गोदाम में बंद पड़े हैं. प्रारब्ध कर्म वे कर्म हैं जिनको खलिहान से

हम अपने पात्र में भर कर ले आये हैं, अथवा हमारे स्वामी ने हमको गोदाम से एक पात्र भर कर दे दिया, और हमको आज, अर्थात इस जीवन में, इस पात्र को पूरा खाना है और पूरा खाना ही पड़ेगा. इस से किसी भी तरह का छुटकारा नहीं मिल सकता. केवल विकर्म अथवा गलत कर्म ही कर्म नहीं होते, सुकर्म भी कर्म की श्रेणी में आते हैं और उनको भी भोगना पड़ता है. अर्थात जो भी कर्म चित्त में होंगे जब तक चित्त खाली नहीं होगा, योग की अनुभूति नहीं हो सकती.

अर्थात जीव पूर्ण वैराग्य से हर जीवन में व्यवहार करे और न तो कोई विकर्म करे और ना ही सुकर्म, केवल अकर्म करे, अर्थात जो भी करे, इस निश्चय से करे की ईश्वर ने उसे इसी कार्य के लिए भेजा है और वह ईश्वर का कार्य कर रहा है. जैसा की एक पात्र, लेखक और निर्देशक के आदेश का पालन करते हुए कभी वकील बनता है कभी अपराधी, लेकिन वह उस पात्र से किसी भी तरह का राग नहीं रखता.

इस तरह से संचित कर्मों को सहत्रों सहस्त्रों जन्म जामंतरो के बाद थोड़ा कम किया जा सकता है.

गीता अध्याय ४ श्लोक ३७ में स्वयं ईश्वर ने संचित कर्मों से छुटकारा पाने की राह दिखाई है.
यथै धांसि समिद्धो अग्नि र्भस्म सात् कुरुते अर्जुन .
ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्म सात् कुरुते तथा.
अर्थात, हे अर्जुन, जैसे समिधा अर्थात जलने योग्य सामग्री व लकड़ी भूसे को अग्नि पूरी तरह भस्म कर देती है, ठीक वैसे ही ज्ञान रुपी अग्नि, सभी कर्मों (संचित और क्रियमानी) को भस्म कर देती है. अर्थात चित्त में किसी भी तरह का संचित कर्म शेष नहीं रहता और योग , अर्थात ईश्वर मिलन, का मार्ग प्रशस्त हो जाता है. इसमें ईश्वर ने अप्रत्यक्ष रूप से यह भी बताया है की प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होते, वह तो जो इस जन्म में आ चुके हैं, अर्थात शरीर रुपी खेत में बोये जा चुके है, जब तक शरीर रहेगा, उनको भोगना ही पड़ेगा.

ईश्वर के ज्ञान व मिलन के पश्चात, जब कोई कर्म ही नहीं बचा तो जन्म लेने का भी कारण ख़त्म हो गया, और जीव पूरी तरह मुक्त हो गया. जीव मुक्त का अर्थ जिन पांच महा भूतों से स्थूल शरीर की रचना हुई वह स्थूल पांच महाभूतों में विलीन हो गए, जिन सूक्ष्म पांच महा भूतों से सूक्ष्म शरीर की रचना हुई है वह सूक्ष्म प्रकृति में मिल गए, और चिदाभास का कोई अक्ष नहीं रहा, पूर्ण आनंद व मुक्ति हो गई.

अब प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान अग्नि कैसे प्रज्वलित होगी?, यह अग्नि कहाँ से मिलेगी?, यह अग्नि क्या होती है, इसका ईंधन कहाँ से मिलता है? आदि.

अध्याय २मन्त्र २२.

यस्या देव परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ.

तस्यैत कथि था ह्यर्था: प्रकाश्यन्ते: महात्मना .

अर्थात, जिस तरह जिज्ञासु ज्ञानी महात्मा की, परमेश्वर में पराभक्ति है, जैसी भक्ति परमेश्वर में है, वैसी ही गुरु में भी है. उसी को ही गुरु के उपदेश किये हुए विषयों का प्रकाश प्राप्त होता है.

अर्थात गुरु को परमेश्वर के समान अथवा परमेश्वर ही मानो.

इस मन्त्र का अर्थ वैसे तो बहुत सरल है, कि जो शिष्य अपने गुरु पर पूर्ण श्रद्धा रखता है और गुरु को ईश्वर से अलग नहीं मानता, वह गुरु से श्रेष्ठ ज्ञान को पाने में सफल रहता है. यही ज्ञान अग्नि अथवा तेज, के रूप में मन और चित को प्रकाशित करता रहता है.

एक उदाहरण से इसका अर्थ सूक्षम रूप से बतलाने की कोशिश करते हैं. यह थोड़ा सूक्ष्म ज्ञान है आप भी थोड़ा सावधान व समर्पित होकर सुनना.

एक गुरुकुल में एक बहुत गहन विचारक व श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ, अति वृद्ध आचार्य रहा करते थे. उनका कोई मुख्य कार्य नहीं था, वे गुरुकुल की सभी जिम्मेदारियों से पूरी तरह मुक्त थे. वे मुख्यतः ध्यान समाधी में रहते और कभी कभी स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों के साथ किसी किसी विषय पर गहन चिंतन भी कर लेते थे. उनकी उम्र का उनकी वार्ता पर असर रहता कभी कभी बोलते बोलते भूल भी जाते कि क्या बात कर रहे थे, किस ज्ञान विषय पर चर्चा कर रहे थे. कभी कभी कई दिनों तक, वे एक ही विषय पर बोलते रहते. दूसरी तरफ उच्च स्तर के विद्यार्थी होने के कारण वह विद्यार्थी भी कभी कभी माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की कक्षा ले लिया करते. गुरुकुल के प्रधानाचार्य ने कुछ अच्छे विद्यार्थियों को शिक्षक के रूप में अपने गुरुकुल में रख लिया. गुरुकुल बहुत प्रसिद्धि पा रहा था. विद्यार्थी की संख्या भी बढ़ने लगी, गुरुकुल विद्यार्थियों से भरा रहता.

एक दिन वृद्ध आचार्य ने सोचा कि कई दिन हो गए, स्नातकोत्तर कक्षा में जा कर कुछ वार्ता हो जाए तो अच्छा रहे. नयी पीड़ी के विचार, विषय पर गहराई, और चिंतन की दिशा की भी जानकारी मिल जायेगी. कक्षा में बहुत काम विद्यार्थी थे, बाकी विद्यार्थी, माध्यमिक कक्षा आदि में पढ़ाने के लिए गए थे. वृद्ध आचार्य ने, विद्यार्थियों के साथ, जो भी उपलब्ध थे, उनको कहा कि सभी विद्यार्तियों को कहना कि अध्यात्म चर्चा में भाग लेने सायंकाल में मुझसे जरूर मिलें.

शाम को लगभग सभी विद्यार्थी पहुंच गए, आपस में चर्चा शुरू हुई. स्नातकोत्तर कक्षा के विद्यार्थी भी आचार्य के स्तर के माने जाते थे, उनके ज्ञान का स्तर भी अच्छा था, पूरी तो नहीं पर, लगभग सभी महत्वपूर्ण ऋचाएं कंठस्थ

थी. अब तो लगभग सभी विद्यार्थियों को आचार्य अथवा शिक्षक का पद भी मिल चुका था. इसलिए उनका ध्यान चर्चा में कम लेकिन अपने तर्कों को प्रस्तुत करने में अधिक था. वृद्धआचार्य ने चर्चा को गहराई में ले जाने के लिए ऋचाओं के संधि शब्दों की चर्चा प्रारम्भ की और बताने लगे कि संधि से शब्दों और उनके अर्थों पर बहुतप्रभाव पड़ता है. कुछ संधि शब्द, संज्ञा का रूप ले लेते हैं, और इस को, अर्थ के लिए, बहुतध्यान से चुनाव करना होता है. इस गहन चिंतन से विद्यार्थियों को आश्चर्य हुआ, उन्होने वृद्धआचार्य जी से कहा, यह तो प्राथमिक स्तर का ज्ञान है, संधि आदि तो प्रार्थमिक स्तर पर ही पूरी हो जाती है. वृद्धआचार्य ने कहा, नहीं संधि का ज्ञान हर स्तर पर अलग अलग है. विद्यार्थियों के लिए वृद्धआचार्य बहुतपूजनीय थे, लेकिन आज उनकी बातें विद्यार्थी उस गहनता से नहीं ले रहे थे, जैसा वह अपने विद्यार्थी जीवन में लेते थे. अब सभी एक शिक्षक बन चुके थे.

वृद्धआचार्य मुस्कुरा कर रह गए और जल्दी चर्चा को ख़त्म कर अपनी कुटिया में आ गए.

इस कथा का सार है कि, ज्ञान लेने के लिए सबसे पहला सोपान यह है गुरुको सर्श्रेष्ठ मानो, अपने ज्ञान को अपने से बहुतदूर रख दो. जैसे ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि, मैं मूरख खल कामी, कृपा करो भरता, ठीक उसी तरह यदि शिष्य वृद्धआचार्य जी से ज्ञान मांगते, तो पूर्ण ज्ञान मिल जाता. यदि शिष्य , केवल, वृद्धगुरु जी की बात ही पूरी होने देते, तो शायद आज गुरूजी वेदों में उपयुक्त बसे गूढ़ संधि, का ज्ञान ले लेते.

माया, जीव को, बहुतछलती है, पता नहीं किस तरह से, माया, हमको ईश्वर के ज्ञान से दूर कर दे, हमको कभी पता नहीं चल पायेगा. कभी किसी गुरुको बदनाम कर, कभी शिष्य के मन में गर्व का भाव भर कर, ऐसे अनंत तीर हैं माया के तरकश में, लेकिन इन तीरों से बचने का केवल एक ही कवच है, गुरुके प्रति परमात्मा स्वरुप निष्ठा व सम्मान.

अध्याय ६. मन्त्र ७६.
यथा अग्नि दारु मध्स्थो नोति तिश्ठयें मन्थनम बिना.
बिना चा भ्यास योगनें ज्ञान दीपस्तथा नहि.
जैसे मंथन किये बिना काष्ठ से अग्नि प्रज्ज्वलित नहीं हो सकती, उसी तरह सतत अभ्यास के बिना ज्ञान का दीप, बुद्धि में नहीं जल सकता.

सर्व विदित है कि काष्ठ में अग्नि होती है, लेकिन वह अग्नि काष्ठ में व्यापक होती है, प्रकट अग्नि नहीं होती. ठीक वैसे ही तीव्र बुध्दि में ज्ञान की भरपूर क्षमता होती है, उसमे ज्ञान का संचय, मंथन और निर्णय की असीमित सम्भावना होती है.

जिस तरह व्यापक अग्नि, किसी काम की नहीं होती, अर्थात लकड़ी आपके गोदाम में सूखी पड़ी है, या आपके सम्मुख ही पड़ी हो, तो वह किसी काम नहीं आ सकती. उसी तरह तीव्र बुद्धि युक्त बालक या विद्यार्थी आपके सम्मुख सोता रहे या व्यर्थ समय व्यतीत करता रहे तो वह विद्यार्थी किसी भी योग्य नहीं होता.

यदि काष्ठ में अग्नि प्रकट हो जाती है तो वह कई काम आती है, खाना बनाने, प्रकाश करना, ठण्ड से बचे आदि. इसलिए प्रकट अग्नि, व्याप्त अग्नि के अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण और काम आ सकने वाली मानी जाती है. जब तक एक काष्ठ को दूसरे काष्ठ से न रगड़ो, और तब तक रगड़ते रहो जब तक अग्नि न प्रज्ज्वलित हो जाए, तभी उस काष्ठ व काष्ठ अग्नि का का वास्तव में प्रयोग हो पायेगा.

ठीक इसी तरह जब तक कोई विद्यार्थी लगातार अपनी शिक्षा में चिंतन, मंथन और सतत अभ्यास न करे उसे ज्ञान नहीं आ सकता. जिस तरह अग्नि को प्रकट करने के लिए मेहनत चाहिए, ठीक उसी तरह विद्यार्थी को भी सतत अभ्यास की जरूरत होती है तभी उसको ज्ञान आ सकता है. बिना अभ्यास, आवृति, सतत चिंतन और लेखन के बाद ही विद्यार्थी को विषय में प्रवीणता प्राप्त होती है.
ज्ञान आने के बाद ही विद्यार्थी गुरुकुल, परिवार, समाज और राज्य के काम आ सकता है और उसका जीवन सामर्थ्य पूर्ण हो जाता है. इसमें कोई संशय नहीं है.

अध्याय ६ मन्त्र ७९
करन धारणं गुरु प्राप्य तद वाक्यं पल्लव वद्दढ़म
अभ्यास व वासना शक्त्या तरन्ति भव सागरम.
कर्णधार रूप में गुरु को प्राप्त करके उसके द्वारा उपदेश किये हुए महावाक्य को मजबूत नौका मान कर उसके वासना शक्ति से साधक इस लोक से भवसागर को पार करते हैं.

यह अत्यंत गूढ़मन्त्र है, जिसमे वेद वाक्यों को एक जड़ रूप माना गया है, और गुरु ही ज्ञान चेतन तत्त्व है जो शिष्य को भवसागर से पार करवा सकता है.

अर्थात, वेद उपनिषद और अष्टादश पुराण (अट्ठारह पुराण) सभी केवल पुस्तकें हैं और इनमे लिखा हुआ ज्ञान, काली स्याही से उकेरे हुए अक्षर, शब्द व वाक्य हैं. पुस्तक जड़ है वह किसी को ज्ञान नहीं दे सकती, वे किसी को अपने पत्रों या पन्नों में क्या लिखा है और उसका वाच्यार्थ क्या है, पुस्तक कुछ नहीं बता सकती. पुस्तक को तो यह भी ज्ञान नहीं होता कि वह एक पुस्तक है. अर्थात पुस्तक केवल एक जड़ वस्तु है. इसी तरह, पुस्तक आदि में लिखे हुए अक्षर शब्द और वाक्य भी केवल स्याही से उकेरी हुई आकृतियां हैं, जिसका अर्थ वही जान सकता है जिसे उन आकृतियों का पड़ना आता है. यदि किसी के सामने किसी अनजान भाषा की श्रेष्ठ व भगवत प्राप्ति की सिद्ध पुस्तक रख दो तो क्या वे व्यक्ति उस पुस्तक में लिखे हुए संवाद या ज्ञान को पढ़ पायेगा?

नहीं वह बिलकुल नहीं पढ़ पायेगा. यदि किसी बालक को गहन अथवा कूट भाषा में लिखी हुई पुस्तक देदें तो क्या वह बालक उस गहन ज्ञान अथवा कूट भाषा का अर्थ बता पायेगा? नहीं बिलकुल नहीं बता पायेगा. कूट भाषा अथवा गहन ज्ञान भाषा को वही जान पाता है जिसे उस कूट अथवा जिसका उस गहन ज्ञान में प्रवेश हो.

केवल गुरु ही हैं, जो वेदों उपनिषदों का अर्थ जानते हैं. वही सटीक तरीके से उस ज्ञान को बता सकते हैं और हमें वह ज्ञान उपलब्ध करा सकते हैं.

एक उदाहरण है. एक डाकिया एक ही शहर में २० साल से डाक बांटने का काम करता था. इसलिए वह हर एक घर और घर के हर सदस्य को नाम से जानता था. एक दिन एक पते पर एक खत आया उसमे नाम लिखा था श्रीमच्छरचन्द्र चट्टोपाध्याय, वह बिलकुल गलत नाम लिखा था, लेकिन पता बिलकुल सही था. उस नाम का कोई भी व्यक्ति उस शहर में नहीं रहता था. तो उसने वह पत्र अपने डाकघर में वापस कर दिया, कि इस नाम का कोई व्यक्ति उस घर में नहीं रहता. डाकघर के डाक प्रमुख ने उस डाकिये से बोला, पहले एक बार उस घर में इस पत्र को दिखा तो दो, जब वे बोलें, कि ऐसा कोई व्यक्ति इस घर में नहीं रहता, तब वापस दे देना. डाकिये ने थोड़ी देर बहस की, फिर कुछ सोच कर वापस अपने डाक वाले शहर में आ कर डाक बांटने लग गया. जब वे उस घर पंहुचा, तो उसने वहां, उन सज्जन से पूछा कि यहां कोई श्रीमच्छरचन्द्र चट्टोपाध्याय जी रहते हैं क्या? तब देश के सबसे महान लेखकों में से एक, श्री शरतचंद्र जी बाहर आये, और बोले, हाँ यह मेरा ही पत्र है.
डाकिये ने उनको देखा, तो शर्मिंदा हो गया, और पूरे सामान से बोला, माननीय जी, आपका नाम तो सभी जानते हैं, यह आपका नाम नहीं है. शरतचंद्र जी ने उस डाकिये को कहा कि भाई मैं आपको अब हिंदी भाषा के संधि और द्वन्द समास कैसे समझाऊँ, श्रीमत और शरतचंद्र की जब संधि की जाती है तो वह नया शब्द श्रीमच्छरचन्द्र बन जाता है. डाकिये को कुछ समझ नहीं आया लेकिन उसने वह पत्र उनको दे कर, हैरानी से अपनी साईकिल से अगले घर चला गया. और कई दिनों तक सोचता रहा कि शरतचंद्र जी को श्रीमच्छरचन्द्र कैसे कह सकते हैं?

ठीक इसी तरह केवल गुरु ही जानते हैं कि मन्त्रों का क्या अर्थ है.
अब यह जान लो कि जैसे पुस्तकें आदि जड़ है, ठीक वैसे नौका भी जड़ है. जैसे पुस्तकों से श्रेष्ठ व सही ज्ञान केवल गुरु ही निकाल कर बता सकते हैं, ठीक वैसे ही नौका को खेने वाला ही नौका को ठीक से चला सकता है. जैसे गुरु ही ज्ञान दे कर शिष्य के अज्ञान को दूर कर ज्ञान से भर देते हैं, ठीक वैसे ही केवट अर्थात नौका चलाने वाला ही नौका को ठीक से नदी के एक किनारे से दूसरे किनारे तक सुरक्षित पंहुचा सकता है. केवल केवट को ही नदी की और जल के व्यवहार की जानकारी होती है, अन्यथा मूर्ख तो नाव को बीच भंवर में ही डूबा देंगे और यात्री की तो जीवन लीला ही समाप्त हो जाएगी.

इसलिए वेदों को नाव माना गया है और गुरु को कुशल नाविक, केवल गुरु ही शिष्य को वेद रुपी नौका व ज्ञान अग्नि के प्रकाश से इस लोक से भवसागर के उस पार पहुंचा सकता है. इसलिए यह अच्छे से जान लो कि गुरु के बिना योग प्राप्ति संभव नहीं है. और गुरु तभी कुछ ज्ञान दे सकता है, जब शिष्य ज्ञान ले सकने की सामर्थय रखता हो. अर्थात जब शिष्य का गुरु के प्रति अटूट सम्मान हो, जब शिष्य अपने गुरु को परमेश्वर स्वरुप देखता हो, और ज्ञान प्राप्ति कि मुमुक्षुता उसमे वासना की तरह भरी हो. अर्थात ज्ञान लेने के सिवाय उसे और किसी का भी ध्यान न हो. इन्ही सख्त अनुशासन के पश्चात ही शिष्य, ज्ञान लेने योग्य बनता है और ज्ञान अग्नि को अपने में समाहित कर ने में सक्षम बनता है.